अलंकारों का शास्त्रीय स्वरूप

*डॉ. राजेश कुमार

जिस प्रकार एक रमणी बिना आभूषणों के सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार कविता भी बिना अलंकारों के शोभा नहीं पाती। अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने का कार्य करते हैं। प्राचीन अलंकार शास्त्री दण्डी ने कहा भी है –

'काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।'

भारतीय काव्य शास्त्र में आचार्यों की एक ऐसी परम्परा मिलती है जो अलंकारों को काव्य में प्रमुख स्थान देते थे और अलंकारों को काव्य सौन्दर्य का मूल कारक मान कर उन्हें ही काव्य का सर्वस्व घोषित करते थे। देखा जाए तो काफी हद तक यह बात सत्य भी है। अलंकार विहीन काव्य की कल्पना कर देखें तो स्पष्ट होता है कि ऐसा कदापि सम्भव नहीं है कि अलंकार न हों तो शब्दों को व शब्दों के समूह को कविता कहा जा सके। प्रस्तुत इकाई में हम आपको अलंकारों का काव्य शास्त्रीय स्वरूप दिखाने का प्रयास कर रहे हैं। इसमें हम आपको बताएँगे –

- अलंकार क्या होते हैं?
- काव्य में अलंकारों का महत्त्व।
- अलंकारों का परिचय।
- अलंकारों का वर्गीकरण।
- काव्य में अलंकारों का स्थान।
- विभिन्न अलंकारवादी आचार्यों का अलंकार के संदर्भ में मत।
- अलंकार के भेद और उपभेदों का परिचय।

भारतीय काव्य शास्त्र में आचार्यों की एक ऐसी परम्परा मिलती है जो अलंकारों को काव्य में प्रमुख स्थान देती है और अलंकारों को काव्य सौन्दर्य का मूल कारक मान कर उन्हें ही काव्य का सर्वस्व घोषित करते हैं। इस परम्परा के प्रथम प्रबल समर्थक आचार्य भामै हैं। उनके पश्चात् आचार्य दण्डी, उदभट्ट, रुद्रट्ट आदि का नाम आता है और इन्हीं आचार्यों के प्रयासों से अलंकारों की संख्या भी सैकड़ों तक पहुँच गई।

वस्तुतः मनुष्य सौन्दर्यप्रिय प्राणी है। बच्चे सुन्दर खिलौनों को पसन्द करते हैं। युवक–युवतियों में परस्पर आकर्षण होता है। प्रकृति के सुन्दर दृश्य मन मोह लेते हैं। मनुष्य वास्तव में सौन्दर्य प्रिय होता है। वह अपने आस–पास सौन्दर्य को ही देखना चाहता है। उसके लिए ही प्रयत्नशील रहता है। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के लिए मनुष्य जहाँ अपने रूप, वेष, घर आदि के सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रयास करता है वहाँ वह अपनी भाषा, भावों के सौन्दर्य में भी वृद्धि करना चाहता है। भावाभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है काव्य। काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए जो साधन अपनाए जाते हैं उन्हें ही अलंकार कहते हैं। उनसे रचना में सौन्दर्य में बढ़ाया जा सकता है पैदा नहीं किया जा सकता। आचार्य दण्डी ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है –

'काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।'

अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं। इस सम्बन्ध में दो बातें स्पष्ट हैं। एक अलंकार शोभा के साधन हैं, काव्य रचना में काव्यत्व–रस पहले होना चाहिए उस काव्यत्व की अलंकारों द्वारा शोभा बढ़ाई जा सकती है। काव्यत्वहीन रचना में अलंकार उसी प्रकार होंगे जैसे प्राण रहित शरीर पर आभूषण सजा दिए हों। दूसरे काव्य में अलंकारों का प्रयोग सप्रयास नहीं होना चाहिए।

ऐसा करने पर काव्य बोझिल हो जाता है तथा उसका स्वाभाविक सौन्दर्य भी नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य के लिए उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है जैसे किसी सुन्दरी के सौन्दर्याभिवृद्धि के लिए आभूषण। अलंकार विहीन काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती इसीलिए इस इकाई में हम अलंकारों के महत्त्व, स्वरूप, भेद आदि विषयों पर चर्चा कर रहे हैं।

अलंकार : अर्थ, स्वरूप व भेद :

'अलंकार' शब्द में 'अलम्' और 'कार' दो शब्द हैं। 'अलम्' का अर्थ है भूषण जो अलंकृत या भूषित करे यह अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए इस कारण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता है। आचार्य वामन के अनुसार –

'अलंकृति : अलंकारः करण व्युत्पत्या पुनः अलंकार शब्दोयमुपमादितु वर्तते'। अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म हैं। इस धर्म का फल काव्य का अलंकरण या सजावट है। इसलिए इसका प्राचीनतम अभिधान 'अलंकार' है। जिस प्रकार हार आदि अलंकार रमणी के नैसर्गिक सौन्दर्य की शोभावृद्धि के उपकारक होते हैं उसी प्रकार उपमादि अलंकार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्षक हैं। वास्तव में अलंकार वाणी के विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिवृद्धि में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलंकार का रूप धारण करती है। इसलिए काव्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य में रमणीयता और चमत्कार का उद्रेक करने के लिए अलंकारों की स्थिति आवश्यक है अनिवार्य नहीं।

'अलंकार' के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने भिन्न–भिन्न लक्षण रूपायित किए हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है – यूनानी काव्य शास्त्र के अनुसार 'अलंकार उन विधाओं का नाम है जिनके प्रयोग द्वारा श्रोताओं के मन में वक्ता अपनी इच्छा के अनुकूल भावना जगा कर उनको अपना समर्थक बना सकता है। 'अलंकार' का लक्षण निरूपित करते हुए अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य भामह ने आठवीं शताब्दी पूर्व वक्रोक्ति को सम्पूर्ण अलंकारों में व्यापक बतलाते हुए इसे अलंकार का एकमात्र आश्रय माना है। आचार्य ने 'वक्रोक्ति' नामक विशेष अलंकार के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु व्यापक रूप से सम्पूर्ण अलंकारों को मानभूत अतिशय उक्ति के लिए किया है। वस्तुतः 'अलंकार' से भामह का अभिप्रायः ऐसी शब्दोक्ति से है जो वक्रार्थ की विधायक हो। वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार नहीं है क्योंकि अर्थ को विभामय करने वाली समस्त विद्या वक्रोक्ति ही है – 'सैषा सवैव वक्रोक्तिरनयाथों विभाव्यते। यत्नोंस्यां कविना कार्यः कोलंकारोनयाविना' काव्यालंकार में यह कह कर उन्होंने इसी तथ्य की ओर स्पष्ट निर्देश किया है और कहा है कि कवि को इसी के विषय में प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि इसके बिना कोई अलंकार नहीं हो सकता। आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभाकार धर्मों को अलंकार कहा है जिसका जिक्र हम प्रस्तावना में कर चुके हैं। यद्यपि दण्डी ने अलंकार को काव्य की शोभाकर धर्म माना था। किन्तु वामन उसका विरोध करते हुए गुणों को शोभाकर धर्म मानते हैं। उनके अनुसार अलंकार शोभा के कार्य नहीं अतिशयता हैं। वे काव्यालंकार सूत्र में कहते हैं – 'काव्यशोभायाः कर्त्तारोधर्मागुणाः। तदतिशपहेत वस्त्वलंकाराः।' वामन ने अपने ग्रन्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। संकीर्ण अर्थ में अलंकार काव्य के वे धर्म हैं जिनको दण्डी ने 'शोभाकर' कहा था। व्यापक अर्थ में सौन्दर्य मात्र को अलंकार कहते हैं। इसके अर्थगत वे सभी विधाएँ आ जाती हैं जिनके कारण हमारे मन को काव्य आकृष्ट करता है। आचार्य वामन व्यापक अर्थ में अलंकार का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य उपदेय है और वह अलंकार सौन्दर्य है – 'काव्ये ग्राह्यलंकारात। सौन्दर्यमलंकाराः' आचार्य रुद्रट ने नवीं शताब्दी में अपने ग्रन्थ 'अलंकार सर्वस्व' में लिखा है कि अभिधान के कथन के प्रकार विशेष अर्थात् कवि प्रतिभा से प्रादुर्भूत कथन विशेष ही अलंकार है – 'अविधानप्रकारविशेषा स्व अलंकाराः' ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में इसी मत का समर्थन करते हुए वाणी की अनन्त शैलियों को अलंकार कहा है – 'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः तत्प्रकारा एव अलंकाराः' इनके द्वारा वक्रोक्ति जीवितकार 'कुन्तक' के इस अभिमत की पुष्टि होती है कि विदग्धों के कहने के ढंग ही वक्रोक्ति हैं और वे ही अलंकार हैं – 'वक्रोक्ति रव वैदिग्ध्यभंगी मणितिरुच्यते' (वक्रोक्ति जीवितः) मम्मट ने गुण की नित्य तथा अलंकार की अनित्य सत्ता मानी है, वामन के आधार पर ही। बाद के आचार्यों ने मम्मट का इस विषय में विरोध भी किया है। मम्मट के अनुसार काव्य में रस अंगी है उसका उत्कर्ष नित्य धर्म 'गुण' है, ये उसी प्रकार है जैसे व्यक्ति शूरता आदि। 'अलंकार' हार आदि आभूषणों के समान हैं। वे कदाचित रस का उपकार करते हैं सर्वदा नहीं। जहाँ रस नहीं है वहाँ भी अलंकार रह सकता है। बाद में जयदेव ने अपने ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' में मम्मट के मत का प्रतिख्यान किया है। उनके अनुसार रसवती कविता निर्विचार है तथा अलंकार युक्त कविता विचार को उल्लासित करती है। वस्तुतः जयदेव ने पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन नहीं किया है केवल अपने मत का आग्रह प्रकट किया है कि अलंकार के बिना कविता उसी प्रकार है जैसे ऊष्णता के बिना अग्नि – 'असो न मन्यते कस्मादनुष्ण मनलंकृती'। विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' के अनुसार शब्द और अर्थ के जो शोभातिशायी अर्थात् सौन्दर्य की विभूति बढ़ाने वाले धर्म हैं वे ही अलंकार हैं – 'शब्दार्थ योर स्थिरा ये धर्माः शोभाति शायिनः'।

हिन्दी के आचार्यों ने भी 'अलंकार' का प्रायः वैसा ही लक्षण निरुपित किया है जैसा कि संस्कृत आचार्यों ने। अधिकांश आचार्यों ने लक्षण निरुपण किया ही नहीं। हिन्दी के अलंकारों का विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य केशव ने (16–17वीं श.ई.) में अलंकारहीन कविता को नग्न माना है। वे वामन के समान काव्य प्रतिष्ठा को अलंकार पर निर्भर नहीं मानते और न उन्होंने अलंकारहीन कविता को निष्प्राण ही माना है। एक बार तो ऊपरी श्रंगार उनको सौन्दर्य का अपकर्षण जान पड़ता है – 'काहे को सिंकार कै विगारति है मेरी आली,

तेरे अंग बिना ही सिंगार कै सिंगार है' (कविप्रिया)। कवि देव (17वीं श.ई.) ने भी केशव की भाँति ही 'मृतक काव्य बिनु अर्थ को' कहा है। वे भी मानते हैं कि कविता–कामिनी 'अलंकार पहिरे अधिक अद्‌भुत रूप लखति' (काव्य रसायन) कवि भिखारीदास के अनुसार भी अलंकार काव्य के लिए आवश्यक है। इनमें पद्‌माकर का लक्षण सर्वथा भिन्न है – 'शब्दहुँ तै कहुँ अर्थ ते कहूँ दुहुँ ते उर आनि। अभिप्राय जिहि भाँति जहँ अलंकार सौ मानि' (पद्‌माकर कवित)।

आधुनिक काव्य शास्त्रों के आचार्यों ने रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अलंकार कथन की रोचक, सुष्ठुर और प्रभावपूर्ण प्रणाली है। 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में उन्होंने इस तथ्य की ओर स्पष्ट निर्देश किया है – 'अलंकार है क्या? वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियाँ जिन्हें काव्यों से चुन कर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाए। वे शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रन्थों में मिलते हैं उतने ही अलंकार हो सकते हैं।' अलंकार की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कतिपय आचार्य काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्य को 'अलंकार' मानते हैं और कुछ आचार्यों ने काव्य के प्राणभूत रस, गुण आदि के प्रभावक एवं उत्कर्षक धर्मों को अलंकार कहा है। अलंकारवादी प्राचीन आचार्य भामह, दण्डी, उदभट्‌ट, रुद्रट आदि ने काव्य के प्राणभूत तत्व को 'अलंकार' कहा है। अलंकार प्रयोग की यह विशेषता प्राचीन आचार्यों के विशेष आग्रह के साथ लक्षित होती है। 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव भी इस मत के प्रबल समर्थक हैं। हिन्दी में केशव भी जयदेव के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं – 'जदपि सुजाति, सुलक्षिणी, सुबरन सरस सुवृत्त। भूषण बिनु न विराजई, कविता बनिता मित्त।' (कविप्रिया)

अलंकारों का वर्गीकरण :

अलंकारों के वर्गीकरण के इतिहास पर यदि दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम रुद्रट ने अलंकारों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया था। उन्होंने अलंकार को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों में विभक्त किया पर यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक ही रहा क्योंकि वह न तो औपम्य के अन्तर्गत सभी सादृश्यमूलक अलंकारों को रख सके और ना शब्दालंकारों को ही ठीक से विभाजित कर पाए। 'उत्प्रेक्षा' सादृश्यमूलक अलंकार है। उसे उन्होंने 'अतिशय' में रखा और 'व्यतिरेक' को वास्तव के अन्तर्गत।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण किया। उन्होंने अलंकारों को सात वर्गों में विभाजित किया। 1.सादृश्य गर्भ, 2.विरोध गर्भ, 3.श्रृंखलाबद्ध, 4.तर्क न्यायमूलक, 5.काव्य न्यायमूलक, 6.लोक न्यायमूलक, 7.गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक। रुद्रट की अपेक्षा रुय्यक का यह वर्गीकरण अधिक व्यवस्थित है किन्तु इसमें अनेक अवैज्ञानिकताएँ हैं लेकिन विश्वनाथ एवं पं. जगन्नाथ तक आते–आते अलंकारों का यह वर्गीरण काफी व्यवस्थित हो गया। उन्होंने अलंकारों के तीन वर्ग माने और वे ही साहित्य शास्त्र में प्रचलित हो गए। आचार्य सम्मत वर्गीकरण निम्न प्रकार से है – 1.शब्दालंकार, 2.अर्थालंकार, 3.उभयालंकार।

1. शब्दालंकार : जहाँ अति चमत्कार शब्द प्रयोग पर आश्रित हो वहाँ शब्दालंकार होता है। रचयिता जहाँ ऐसे वर्णों अथवा शब्दों का प्रयोग करता है जिनमें शब्द चमत्कार सौन्दर्य उत्पन्न हो जाए वहाँ शब्दालंकार होता है। प्रमुख शब्दालंकार हैं – अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्तिवदाभास, वीप्स, ध्वनिचित्र, व ध्वन्यर्थव्यंजना आदि।

2. अर्थालंकार : जहाँ अर्थ में चमत्कार उत्पन्न होता हो वहाँ अर्थालंकार होता है। अर्थालंकार के लिए शब्दों के समान प्रयोग का कोई महत्त्व नहीं है। चमत्कार शब्दार्थ पर आधारित होता है शब्द पर नहीं। अर्थालंकार के यों तो सैकड़ों भेद हैं किन्तु मुख्य रूप से इसका विभाजन 6 वर्गों में किया जा सकता है।

(क) सादृश्य मूलक अर्थालंकार : इसे समानतामूलक भी कहा जाता है। इस प्रकार के अलंकारों में मूलतः उपमेय और उपमान की समानता का भाव रहता है। इसके अनेक रूप हैं और इन अलंकारों का महत्त्व भी सर्वाधिक है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, सन्देह, भ्रम, उल्लेख, अन्योक्ति, समासोक्ति, प्रतीप, दृष्टान्त आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। इसमें भी अनेक उपभेद किए जा सकते हैं। जैसे –

(1) तुलनात्मक – उपमा, अनन्वय, व्यतिरेक आदि।
(2) अभेदपरक – रूपक, अपन्हुति आदि।
(3) सम्भावनापरक – उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि।
(4) तर्क या दृष्टान्त परक – उदाहरण, दृष्टान्त आदि।
(5) अन्योक्ति परक – अन्योक्ति, समासोक्ति आदि।

(ख) विरोधमूलक अर्थालंकार : जिन अलंकारों में रचयिता के कथन में परस्पर विरोध का आभास हो पर विरोध न हो और इस विरोध दर्शन से एक नवीन अर्थ चमत्कार उत्पन्न हो वहाँ विरोधमूलक अलंकार होता है। इस वर्ग में विरोधाभास और उसके शैली भेद में

असंगति, विभावना, विशेषोक्ति, विषम आदि अलंकार भी आते हैं।

(ग) श्रृंखलामूलक अर्थालंकार : जिन अलंकारों में वस्तुओं का क्रमबद्ध रूप में वर्णन हो और इस वर्णन से चमत्कार उत्पन्न होता हो वे अलंकार श्रृंखलामूलक होते हैं। एकावली, सार आदि अलंकार इस वर्ग में आते हैं।

(घ) गुणमूलक अर्थालंकार : गुणावगुण अथवा विशेषता का विभिन्न प्रकार से वर्णन करने वाले अर्थालंकार गुणमूलक अलंकार कहलाते है। इस वर्ग में तद्गुण, अतद्गुण, परिसंख्या, अनुज्ञा, तिरस्कार, विनोक्ति, परिकर आदि अलंकार आते हैं।

(ड़) अतिशयोक्ति परक अर्थालंकार : जिन अलंकारों में किसी बात को सीमा से अधिक बढ़ा–चढ़ा कर कहा जाए अतिशयोक्ति परक अलंकार होते हैं। इस वर्ग का प्रधान अलंकार अतिशयोक्ति अलंकार है और इसके शैली भेद से उत्पन्न सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अत्यन्नातिशयोक्ति आदि अलंकार भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

(च) व्यंग्यार्थमूलक अर्थालंकार : वाक्य के स्थान पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले अलंकार इसी वर्ग में आते हैं। यथार्थयोक्ति, व्यंग्योक्ति, ब्याजस्तुति आदि अलंकार इस वर्ग में आते हैं

3. उभयालंकार : जहाँ कवि की उक्ति में शब्दालंकार और अर्थालंकार इस प्रकार घुले–मिले हों कि पृथक न हो सकें वहाँ उभयालंकार होते हैं। संकट, संसृष्टि आदि इस श्रेणी के अलंकार हैं।

4.2.2 प्रमुख अलंकारों का सोदाहरण परिचय :

अलंकारों का सर्वाधिक प्रचलित वर्गीकरण है शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। इनका विस्तृत विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ कुछ प्रमुख अलंकारों के लक्षण उदारहण सहित प्रस्तुत हैं।

1.अनुप्रास : जहाँ समान व्यंजनों की आवृत्ति से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। इसके अनेक भेद हैं – वृत्यानुप्रास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, श्रुत्यानुप्रास, और अन्त्यानुप्रास।

(क) वृत्यानुप्रास : जहाँ एक या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे – तरिन–तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।

झुके कूल सौं जल परसन हित मनहुँ सुहाये।।

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'त' की आवृत्ति बार–बार हुई है।

(ख) छेकानुप्रास : जहाँ एक से अधिक वर्णों की दो बार आवृत्ति हो वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे – रज–राजस न छुवाइए, नेह चीकने चित्त।

यहाँ रज–राजस में 'र' और 'ज' की दो बार आवृत्ति हुई है।

(ग) लाटानुप्रास : जहाँ समानार्थक लगने वाले वाक्यों में द्वितीय का अन्वय करते ही भिन्न अर्थ निकलता है वहाँ लाटानुप्रास अलंकार होता है। जैसे –

पिता बड़ा, यदि पुत्र लोक यश का अधिकारी।

पिता बड़ा यदि, पुत्र लोकयश का अधिकारी।।

यहाँ वाक्यों के समान लगने पर भी दोनों के अर्थ परस्पर भिन्न हैं। प्रथम वाक्य का अर्थ है – यदि पुत्र लोक में यश प्राप्त करता है तो पिता को भी बड़प्पन प्राप्त हो जाता है। द्वितीय का अर्थ है – यदि पिता यशस्वी हो (बड़प्पन प्राप्त हो) तो पुत्र भी लोक में यश को प्राप्त कर जाता है।

(घ) श्रुत्यनुप्रास : जहाँ एक ही स्थान से उच्चारित वर्णों की आवृत्ति हो वहाँ श्रुत्यनुप्रास अलंकार होता है। जैसे – तुलसिदास सदित निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई।

यहाँ दन्त्य वर्णों त, द, न और स की आवृत्ति हुई है।

(ड़) अन्त्यानुप्रास : छन्द के चरणों के अन्तिम स्वर–व्यंजन की समानता को अन्त्यानुप्रास कहा जाता है। इसे लोक भाषा में तुक कहते हैं। तुकान्त कविता ही इसका उदाहरण है। जैसे –

नाथ सम्भु धनु भंजनि हारा।

होइ कोउ एक दास तुम्हारा।।

यहाँ दोनों चरणों के अन्त में 'रा' आया है।

2.यमक : यहाँ किसी शब्द या वाक्यांश की कई बार आवृत्ति हो, किन्तु अर्थों में विभिन्नता हो, वहाँ यमक अलंकार होता है। शब्द की आवृत्ति होने पर अर्थ भिन्न होता है, अतः उसे सार्थक यमक कहा गया है; किन्तु वाक्यांश में जोड़–तोड़ करनी पड़ती है, जिससे वह अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं रहता। अतः वह निरर्थक यमक कहलाता है। इन दोनों को ही अभंग और सभंग भी कहा जाता है। सार्थक यमक –

कनक कनक ते सौ सुनी, मादकता अधिकाय।

या खाये वीराय जग, या पाये वीराग।।

यहाँ 'कनक' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है किन्तु अर्थ भिन्न–भिन्न है। प्रथम का अर्थ है स्वर्ण और द्वितीय का धतूरा।

निरर्थक यमक –

मृदुलता सुलता सुमना घना।

ससुर की सुर की मन भावना।।

प्रथम पंक्ति में 'लतासु' तथा द्वितीय में 'सुरकी' वाक्यांश की दो बार आवृत्ति हुई है। जोड़–तोड़ के कारण अर्थ नहीं निकल रहा है।

3. श्लेष : जहाँ एक ही शब्द के कई अर्थ निकलते हों, वहाँ श्लेष अलंकार होता है। चमक में एक शब्द दो या अधिक बार प्रयुक्त होता है और प्रत्येक बार भिन्न अर्थ को अभिव्यक्त करता है, लेकिन श्लेष में शब्द एक बार प्रयुक्त होता है और कई अर्थों को अभिव्यक्त करता है। जैसे–

चिरजीवी जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।

को घटिं वै वृषभानुजा, ये हलधर के वीर।।

उक्त दोहे में वृषभानुजा शब्द के दो अर्थ हैं : वृषभानु राजा की पुत्री (वृषभानु+जा) तथा गाय (वृषभ+अनुजा)। इसी प्रकार हलधर शब्द के भी दो अर्थ हैं कृष्ण और साँड। यहाँ 'वृषभानुजा' में सभंग श्लेष और 'हलधर' में अभंग श्लेष अलंकार है।

4. वक्रोक्ति : जहाँ श्लेष अथवा काकु के बल पर, वक्ता द्वारा कहे गए आशय से भिन्न अर्थ ग्रहण कर श्रोता उत्तर देता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं : श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति।

(क) श्लेष वक्रोक्ति : जहाँ श्लेष के आधार पर भिन्न अर्थ ग्रहण करके श्रोता उत्तर देता है, वहाँ श्लेष वक्रोक्ति अलंकार होता है। जैसे –

एक कबूतर देख हाथ में पूछा अपर कहाँ है?

उसने कहा–अपर कैसा? उड़ है गया सपर है।

यहाँ वक्ता ने 'अपर' का अर्थ दूसरा किया है और श्रोता ने पंखविहीन।

(ख) काकु वक्रोक्ति : जहाँ कण्ठ ध्वनि के आधार पर श्रोता अन्य अर्थ की कल्पना करता है, वहाँ काकु वक्रोक्ति होती है। जैसे – मैं सुकुमारि नाथ बन जागू। सुमहि उचित तप मो कहें भोगू।।

यहाँ सीताजी ने कण्ठ–ध्वनि के आधार पर व्यक्त किया है कि मैं सुकुमारी हूँ तो आप भी सुकुमार हैं। यदि आपको उचित है तो मुझे क्यों नहीं?

5. उपमा : अलंकारों में उपमा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अलंकार है। राजशेखर के शब्दों में यह सम्पूर्ण अलंकारों में श्रिरोभषण के समान, काव्य की सम्पदा है और कविवंश की माता के समान है। जहाँ उपमेय एवं उपमान के साम्य का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, वहाँ उपमा अलंकार होता है। उपमा के कई प्रमुख भेद हैं – पूर्णोपमा लुप्तोपमा, मालोपना और रशनीपमा।

(क) पूर्णोपमा : जहाँ उपमा के चारों अंगों – उपमेय, उपमान, साधारण, धर्म और वाचक – का स्पष्ट उल्लेख होात है, वहाँ पूर्णोपमा होती है। जैसे –

मुख मयंक सम मंजु मनोहर।

(ख) लुप्तोपमा : जहाँ उपमा के चारों अंगों में से एक, दो या तीन अंगों का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता, वहाँ लुप्तोपमा मानी जाती है। जो अंग लुप्त होता है, उसको पहले रख कर लुप्तोपमा का नामकरण होता है जैसे – उपमेय लुप्तोपमा, उपमान लुप्तोपमा आदि। हिन्दी में इसके भेदों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण हुआ है। पद्माकार ने लुप्तोपमा के 15 भेद किए हैं और सभी का सोदाहरण विवेचन किया है। यहाँ सभी का विवेचन अप्रासंगिक होगा।

उपमेय लुप्तोपमा – चंचल है ज्यों मीन, अरुणारे पंकज सरिस।

निरख न होय अधीन, ऐसो नर–नागर कवन।।

यहाँ उपमेय लुप्त है। मीन और पंकज की समता किससे की गई है – यह अस्पष्ट है। इसी प्रकार – तुम सम पुरुष न मो सम नारी।

यहाँ धर्म का स्पष्ट कथन नहीं किया गया है। अतएव धर्मलुप्तोपमा है।

(ग) मालोपमा : इसमें उपमेय के लिए अनेक उपमानों की योजना की जाती है। उपमानों की माला–सी बन जाने के कारण ही इसे मालोपमा कहा जाता है। जैसे –

कुंद सी कविंद सी कुमुद सी कपूरिका सी,

कंजन की कतलका कलपतरु केली सी।

चपला सी चक सी चमर सी औ चन्दन सी,

चन्द्रमा सी चाँदनी सी चाँदी सी चमेली सी।।

यहाँ छाया के लिए अनेक उपमान लाए गए हैं।

(घ) रशनोपमा : जब उपमेय अगले क्रम में उपमान या उपमान अगले क्रम में उपमेय बन कर, रसना की कड़ी के समान सम्बन्ध स्थापित कर लें, तब वहाँ रशनोपमा अलंकार कहा जाता है। उदारहणार्थ – सगुन ज्ञान सम उद्यमहु, उद्यम सम फल जान।

फल समान पुनि दान है, दान सरिस सनमान।।

यहाँ प्रत्येक उपमान आगे बनता गया है अतः रशनोपमा अलंकार है।

6. रूपक : जहाँ उपमेय पर उपमान का अभेद या ताद्रष्य वर्णित हो, वहाँ रूपक अलंकार होता है। रूपक के तीन प्रमुख भेद हैं : सांगरूपक, निरंगरूपक और परम्परित रूपक।

(क) सांगरूपक : जहाँ उपमेय पर उपमान का आरोप समस्त अंगों सहित किया जाता है, वहाँ सांगरूपक होता है। जैसे – उदित उदय–गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग

विकसे सन्त सरोज सब, हरषै लोचन भृंग।।

यहाँ राम पर बाल पतंग का आरोप किया गया है। इसके साथ ही मंच पर उदयगिरि का, संत पर सरोज का तथा लोचन पर

भृंग का आरोप किया गया है। इस प्रकार उपमान के समस्त अंगों का उपमेय के समस्त अंगों पर आरोप किया गया है।

(ख) निरंगरूपक : जहाँ उपमेय और उपमान का आरोप तो किया जाए, लेकिन उसके अंगों का नहीं, वहाँ निरंग रूपक होता है।

बन्दौं गुरुपद–कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि।

यहाँ 'गुरुपद–कंज' में निरंगरूपक है, क्योंकि पद पर कंज का निरवयव या निरंग आरोप किया गया है।

(ग) परम्परित रूपक : जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, वहाँ परम्परित रूपक होता है। इसमें यदि दूसरा आरोप न किया जाए तो अर्थ में सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता। उदाहरणतः

तुम बिन रघुकुल–कुमुद विधु, सुरपुर नरक समान।

यहाँ रघुकुल पर कुमुद का आरोप होने के कारण ही राम पर कुमुद का आरोप किया गया है, क्योंकि कुमुद को विकसित करने की सामर्थ्य विधु (चन्द्र) में ही है, सूर्य में नहीं।

7. उत्प्रेक्षा : जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इसमें जानहु, जानो, मानहु, मानो आदि शब्द आते हैं। कहीं–कहीं इनका लोप भी रहता है। उत्प्रेक्षा के तीन भेद हैं : वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा।

(क) वस्तुत्प्रेक्षा : जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु की सम्भावना की जाए, वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार होता है। जैसे – सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।

मनहु इन्द्रमनि सैल पर, आतम पर्‌यौ प्रभात।।

यहाँ भगवान् कृष्ण के श्याम शरीर में इन्द्रनील मणि पर्वत तथा उनके पीताम्बर में प्रभातकालीन धूप की सम्भावना की गई है, अतः यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(ख) हेतूत्प्रेक्षा : हेतू का अर्थ है कारण। जहाँ अकारण में कारण की सम्भावना की जाती है, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है। जैसे – अरुन भये कीमल चरन, भुवि चलने ते मानु।

यहाँ नायिका के पैरों की लालिमा का कारण पैदल चलना बताया गया, जबकि यह लालिमा स्वाभाविक है, अतः हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(ग) फलोत्प्रेक्षा : फल का अर्थ है उद्देश्य। जब उद्देश्य की सम्भावना की जाती है तो वहाँ फलोत्प्रेक्षा अलंकार होता है। जैसे –

खंजरीट नहिं लखि परत, कछु दिन साँची बात।

बाल दृगन सम हीन कों, मनों करन तप जात।।

यहाँ खंजन के कुछ दिन अन्यत्र चले जाने में बालदृगों की समता प्राप्त करने के लिए तप करना उद्देश्य बताया है, जबकि वास्तविक उद्देश्य यह नहीं है। अतः यहाँ फलोत्प्रेक्षा अलंकार है।

हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में अन्तर यह है कि वस्तूत्प्रेक्षा में केवल कारण की कल्पना की जाती है, जबकि फलोत्प्रेक्षा में फल (प्रयोजन) की प्राप्ति को स्पष्ट किया जाता है। कारण (हेतू) में पूर्व निर्धारित वस्तु में कारण–कार्य भाव को स्पष्ट किया जाता है, जबकि फलोत्प्रेक्षा में फल–प्राप्ति को स्पष्ट किया जाता है।

8. व्यतिरेक : व्यतिरेक का अर्थ है – उत्कर्ष या आधिक्य। जहाँ किसी गुण–विशेष के कारण, उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष या आधिक्य हो, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। इसमें उपमान के अपकर्ष और उपमेय के उत्कर्ष के शब्दशः कथन के अतिरिक्त कहीं केवल उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के अपकर्ष से भी भाव व्यंजित कर दिया जाता है और कहीं दोनों में से किसी का भी कारण उल्लिखित नहीं रहता। इस वैभिन्नय के कारण विद्वानों ने इसके कई भेद भी गिनाए हैं। उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के अपकर्ष का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत है –

मृदुल अधर सम होइ क्यों, विद्रुम निपट कठोर।

यहाँ उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के अपकर्ष का शब्दशः कथन किया गया है। लेकिन–

घटै–बढ़ै सकलंक लखि, जग सब कहै ससंक।

बाल बदल सम है नहीं, रंक मयंक इकंक।।

यहाँ उपमान के अपकर्ष से ही उपमेय का उत्कर्ष व्यंजित हुआ है। इसी प्रकार –

खंजन से दृग लसत पै, धरे विसेष विलास।।

यहाँ केवल उपमेय के उत्कर्ष से उपमान का अपकर्ष व्यक्त किया गया है।

प्रतीप और व्यतिरेक दोनों में ही उपमेय का उत्कर्ष दिखाना कवि का अभिप्रेत होता है, लेकिन दोनों में तनिक अन्तर है। प्रतीप में उपमान उपमेय में बदल दिया जाता है, जबकि व्यतिरेक में ऐसा नहीं होता। साथ ही प्रतीप में कवि का उद्देश्य उपमान की भर्त्सना करना होता है, वहाँ वह उपमेय के किसी गुण विशेष की ओर इंगित नहीं करता, जबकि व्यतिरेक में कवि का उद्देश्य गुण–विशेष का कथन करके उपमेय का उत्कर्ष दिखाना होता है।

9. भ्रान्तिमान : जहाँ अत्यधिक साम्य के कारण उपमेय को उपमान समझ लिया जाए और यह ज्ञान निश्चयात्मक हो, वहाँ भ्रान्तिमान या भ्रम अलंकार होता है। भ्रम या भ्रान्तिमान वस्तुतः दर्शन का शब्द है। वहाँ रस्सी को सर्प समझ लेना भ्रान्ति है और यही जगत् के विकास का कारण है। काव्य में यह अलंकार वहीं से ग्रहण किया गया है। जैसे –

नाक का मोती अधर की कान्ति से,

बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।

देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,

सोचता है, अन्य शुक यह कौन है?

10. सन्देह : उपमेय में उपमान का संशय होने तथा स्थिति द्विविधात्मक बनी रहने पर सन्देह अलंकार होता है। जैसे –

सारी बीच नारी है, या नारी बीच सारी है।

सारी ही की नारी है, या नारी की ही सारी है।।

यहाँ चीर–हरण के समय दुःशासन की संशयात्मक स्थिति का वर्णन है। किसी निश्चित मत पर न पहुँचने के कारण सन्देह अलंकार है।

भ्रान्तिमान और सन्देह में अन्तर यह है कि प्रथम में ज्ञान मिथ्या तथा निश्चयात्मक होता है, जबकि द्वितीय में पात्र संशय के हिंडोले में झूलता रहता है। उसका ज्ञान अनिश्यचात्मक होता है।

11. उल्लेख : जब किसी वस्तु या व्यक्ति का अनेक रूपों में वर्णन किया जाता है तो वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं। प्रथम, जहाँ एक ही व्यक्ति द्वारा किसी वस्तु का अनेक रूपों में उल्लेख किया जाए। जैसे – तू रूप है किरण में, सौन्दर्य है सुमन में,

तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।

यहाँ भक्त ईश्वर का अनेक रूपों में दर्शन कर रहा है। द्वितीय, जहाँ एक ही वस्तु का अनेक व्यक्ति अनेक रूपों में उल्लेख करते हैं; जैसे –

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।

गुरुजन जानत लाज है, प्रियतम जानत प्रीति।।

यहाँ नायिका को अनेक व्यक्ति अनेक रूपों में देख रहे हैं।

12. अपन्हुति : जहाँ उपमेय का निषेध करके उपमान का अस्तित्व बताता जाए, वहाँ अपन्हुति अलंकार होता है। जैसे – धाये धुरवा न, छाये धूरि के पटल व्योम,

गाजिबो न, वाजिबो है दुन्दुभि दराज को।

यहाँ बादल और विद्युत–गर्जना का निषेध करके शिवाजी की दुन्दुभि तथा धूलि छाने का कथन किया गया है।

13. अतिशयोक्ति : अतिरंजनापूर्ण उक्ति ही अतिशयोक्ति कहलाती है। काव्य में ऐसी अतिरंजना, जो लोक–मर्यादा का अतिक्रमण करती हो, अतिशयोक्ति कहलाती है। यह सात प्रकार की होती है –

(क) रूपकातिशयोक्ति : जहाँ केवल उपमान का वर्णन हो और उससे उपमेय का अर्थ लगा लिया जाए, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है। जैसे –

कनक लतानि इन्दु, इन्दु माँहि अरविन्द,

झरैं अरविन्दन ते बुन्द मकरन्द के।।

यहाँ चन्द्रमुखी नायिका के रुदन का वर्णन है, लेकिन सम्पूर्ण वर्णन उपमानों से ही किया गया है।

(ख) भेदकातिशयोक्ति : जहाँ उपमेय एवं उपमान में भेद न होते हुए किसी शब्द विशेष से भेद का कथन किया जाता है, वहाँ भेदकातिशयोक्ति कहलाती है। जैसे –

वह चितवन औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।

यहाँ अभेद होने पर भी 'औरै कछू' शब्द से, वर्णित चितवन का अन्य वितवनों से भेद दिखाया गया है, अतः भेदकातिशयोक्ति अलंकार है।

(ग) सम्बन्धातिशयोक्ति : जहाँ दो वस्तुओं से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाए, वहाँ सम्बन्धतिशयोक्ति होती है। जैसे –

कोकन अति सब लोक ते, सुखप्रद राम–प्रताप।

बन्यो रहत जिन दम्पतिन, आठों पहर मिलाप।।

यहाँ राम–प्रताप तथा लोक–मिलाप में सम्बन्ध न होने पर भी कवि ने अपनी प्रतिभा के बल पर उसमे सम्बन्ध प्रदर्शित किया है।

(घ) असम्बन्धातिशयोक्ति : जहाँ दो वस्तुओं में सम्बन्ध न होने पर भी उसका निषेध किया जाए वहाँ असम्बन्धतिशयोक्ति होती है। जैसे –

अति सुन्दर लख तिय मुख तेरो।

आदर हम न करत ससि केरो।।

यहाँ सुख और चन्द्रमा में सम्बन्ध होने पर भी उसका निषेध कर दिया है।

(ड़) अक्रमातिशयोक्ति : जहाँ कार्य और कारण क एक साथ होना वर्णित हो, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है। जैसे –

वह सर इधर गाण्डीव–गुण से भिन्न जैसे ही हुआ।

धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।।

यहाँ तीर चलने तथा सिर कटने का एक साथ ही कथन किया गया है।

(च) चपलातिशयोक्ति : जहाँ कारण के ज्ञानमात्र से कार्य का सम्पन्न होना दिखाया जाए, वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है। जैसे –

जाऊँ कै न जाऊँ यह, सुनत प्रिय मुख बात।

ढरकि परे कर से चलय, सूख गये तिय गात।।

यहाँ प्रियतम के प्रवास के विचार मात्र से नायिका के शरीर का सूखना तथा वलय का सरकना वर्णित है, अतः चपलातिशयोक्ति है।

(छ) अत्यन्तातिशयोक्ति : जहाँ कारण से पूर्व ही का कार्य सम्पन्न होना वर्णित हो, वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति होती है। जैसे – हनूमान की पूँछ में, लगन न पाई आग।

लंका सिगरी जलि गई, गये निसाचर भाग।।

यहाँ हनूमान की पूँछ में आग लगने से पूर्व ही लंका दहन दिखा दिया गया है, अतः अत्यन्तातिशयोक्ति है।

14. विरोधाभास : जहाँ आपाततः विरोध दिखाई दे किन्तु उसका परिहार किया जा सके, वहा विरोधाभास अलंकार होता है। जैसे –

या अनुरागी चित्त की, गति समझै नहिं कोय।

ज्यौं–ज्यौं बूड़े स्याम रंग, त्यौं–त्यौं उज्ज्वल होय।।

यहाँ श्याम का अर्थ काला लेने पर विरोध दिखता है, लेकिन कृष्ण लेने पर उसका परिहार हो जाता है।

15. असंगति : जहाँ कार्य और कारण भिन्न–भिन्न स्थानों पर वर्णित हों और इस प्रकार उनमें असंगति सी जान पड़े, वहाँ असंगति अलंकार होता है। जैसे –

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित्त प्रीति।

परति गाँठ दुरजन हिये, दइ नई यह रीति।।

यहाँ जो टूटता है, वह जुड़ता नहीं है और जो जुड़ता है, वहाँ गाँठ नहीं पड़ती। इस प्रकार कार्य और कारण के स्थान में संगति नहीं है, अतः असंगति अलंकार है।

16. दृष्टान्त : जहाँ उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य में बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव निहित होता है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। जैसे –

धनी गेह में श्री जाती है, कभी न जाती निर्धन घर में।

सागर में गिरती है गंगा, कभी न गिरती सूखे सर में।।

यहाँ प्रथम और द्वितीय दोनों वाक्यों में एक ही भाव है, जिसे दो साधारण धर्मों से व्यक्त किया गया है।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त में दो प्रमुख अन्तर हैं : प्रथम, अर्थान्तरन्यास में एक विशेष वाक्य होता है और एक सामान्य, जबकि दृष्टान्त में दोनों विशेष वाक्य ही होते हैं या सामान्य ही। द्वितीय, अर्थान्तरन्यास में प्रथम का द्वितीय वाक्य से समर्थन किया जाता है, चाहे वह साधर्म्य के आधार पर या वैधर्म्य के, जबकि दृष्टान्त में वह समर्थन नहीं होता, बल्कि बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव होता है।

17. विभावना : जहाँ पर बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो, वहाँ विभावना अलंकार होता है। जैसे – बिनु पद चले सुनै बिनु काना।

कर बिनु कर्म करे विधि नाना।।

आनन रहित सकल रस भोगी।

बिनु वानी वक्ता बड़ जोगी।।

यहाँ ईश्वर को हाथ–पैर आदि से रहित दिखाते हुए भी उनको कर्मों से सम्पन्न दिखाया गया है, अतः यहाँ विभावना अलंकार है।

18. विशेषोक्ति : जहाँ अविकल कारण के होते हुए भी कार्य का न होना वर्णित हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे – त्यों–त्यों प्यासोई रहत, ज्यों–ज्यों पियत अघाई।

सगुन सलोने रूप को, जु न तुषा बुझाई।।

यहाँ पर कारण होते हुए भी कार्य का न होना वर्णित है, अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार – नीर भरे नितप्रति रहें, तऊ न प्यास बुझाई।

19. अन्योक्ति : यहाँ अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाती है, वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है। जैसे – पट पाँखै, भख काँकरैं, सपर परेइ संग।

सुखी परेवा जगत में एकै तुही विहंग।।

यहाँ कबूतर के माध्यम से किसी सर्वसुखसम्पन्न मानव का कथन किए जाने से अन्योक्ति अलंकार है।

20. मानवीकरण : जहाँ किसी अचेतन वस्तु में मानवीय व्यापारों का आरोप करके उसका वर्णन किया जाए, वहाँ मानवीकरण अलंकार होता है। जैसे –

पति–सेवारत साँझ

उझकता देख पराया चाँद

ललाकर ओट हो गयी।

यहाँ सन्ध्या में पतिपरायण स्त्री एवं चन्द्रमा में परपुरुष का आरोप करके चन्द्रोदय के साथ ही सन्ध्या के विलीन हो जाने का सुन्दर वर्णन है।

काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारण :

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि उक्ति–वैचित्र्य या उक्ति–चमत्कार अलंकार है। अब प्रश्न यह है कि काव्य में क्या सर्वत्र उक्ति–चमत्कार अनिवार्य है और क्या प्रत्येक उक्ति–चमत्कार काव्य होता है।

अलंकारवादी इसका उत्तर स्वीकारात्मक देते हैं, लेकिन रसवादी आचार्य इसका उत्तर निषेधात्मक देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इनकी महत्ता के घोर समर्थन का विरोध करते हैं। उन्होंने अलंकार की परिभाषा देते हुए स्पष्ट लिखा है–'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण व क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी–कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।'

यहाँ 'कभी–कभी' शब्दों का प्रयोग अलंकारों के प्रयोग को वैकल्पिक ही सिद्ध करता है। रसवादियों ने अलंकार की स्थिति एक सहायक के रूप में स्वीकार की है और अलंकारवादी उसके बिना काव्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते।

अलंकारवादियों की दृष्टि में 'अलंकारों' का अर्थ व्यापक था, वे सौन्दर्य–प्रसारक प्रत्येक तत्त्व को अलंकार मानते हैं। वामन ने रीति–सिद्धान्त चलाया; फिर भी अलंकारों के प्रति उनकी दृष्टि व्यापक थी। उन्होंने सौन्दर्य को ही अलंकार माना–'सौन्दर्यमलंकारः'–इसमें रीति–जनित सौन्दर्य भी समाविष्ट हो जाता है। लेकिन इसके बाद का अर्थ संकुचित होने लगा और अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

अलंकारवादी आचार्यों के सामने रस की स्थिति पूर्णतः अस्पष्ट नहीं थी। सौन्दर्य के प्रसारक होने के कारण रस को भी वे अलंकार के अन्तर्गत मानते थे। परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन के समान उन्होंने अंगीभूत रसभाव, रसाभाव, भावाभास तथा भाव–शांति को इन नामों से अभिहित न करके उन्हें क्रमशः रसवत, प्रेयस्वत, उर्जस्वी और समाहित अलंकार नाम दिया है।

किन्तु इन आचार्यों ने अलंकार को जो इतना स्थान दिया है, वह कथमेव सही नहीं है। प्रत्येक सौन्दर्य–प्रसारक वस्तु को अलंकार नहीं कहा जा सकता, और दूसरे कुछ वस्तुएँ सौन्दर्य–प्रसारक होती हैं और कुछ सौन्दर्य की जन्मदात्री होती है। रस ऐसी वस्तु है जिसमें सौन्दर्य का प्रसार नहीं, जन्म होता है।

काव्य के दो पक्ष होते हैं – भाव पक्ष और शैली अथवा कलापक्ष। अलंकार–विधान कहीं–कहीं दोनों का ही उपकारक होता है,

पर प्रायः वह शैली–पक्ष का ही होता है। यदि अलंकारवादियों के अनुसार, अलंकार को व्यापक अर्थ में लें तो रस की सत्ता विलुप्त–सी होने लगती है। अतः अलंकार बाह्यभ्यान्तर दोनों में स्थित होते हुए भी उसकी काव्य में मुख्य स्थिति बाह्य ही है। अलंकार रसोत्कर्ष में सहायक भले ही हो जाएँ, रसोत्कर्ष के हेतु नहीं हो सकते। यही कारण है कि अलंकारों के प्रबल समर्थक जयदेव भी अलंकारों का महत्त्व सहायक के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने भी ध्वनि और रस का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया है; क्योंकि अलंकार–तत्त्व बाह्य ही है। यद्यपि इससे रमणीयता अवश्य आती है, भावोत्कर्ष में सहायता प्राप्त होती है और कलापक्ष–निर्माण में यह बहुत ही उपयोगी तत्त्व है, किन्तु फिर भी इसे सर्वोपरि स्थान नहीं दिया जा सकता। अलंकारों का स्थान काव्य में मुख्य तत्त्व रस के सहायक के रूप में ही है।

इस सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र का मत भी उल्लेखनीय है। 'रीतिकाव्य की भूमिका' में वे लिखते हैं – 'वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियों को सुलझाने से सम्बन्ध रखता हो, या केवल कल्पना–विधान के आश्रित है, काव्य–पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्रकाव्य अथवा प्रहेलिका आदि को, जिनमें भाव की रमणीयता का अभाव रहता है, प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है, अर्थात् श्रोता के मन में हल्की–से–हल्की भी भाव–तरंग उत्पन्न नहीं करता, वहाँ हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि–विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने या बौद्धिक ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति सम्भव नहीं है। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता। जिसमें भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक विधान मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही होगा, जिसमें ऐन्द्रिकता का रस नहीं होगा।'

डॉ. सत्यदेव चौधरी भी अलंकार को बाह्यपक्ष का अभिव्यक्ति कारक मान कर उसको काव्य की आत्मा मानने से अस्वीकृति दे देते हैं। यह यद्यपि अलंकारवादियों को सब तत्त्वों से परिचित तो स्वीकार करे हैं, किन्तु अभिव्यक्ति पक्ष और अनुभूतिपक्ष दोनों को मिला देने का कारण वह यह स्वीकार नहीं करते कि अलंकार का स्थान काव्य में सर्वोपरि है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अलंकारों का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनसे काव्य की शोभा में वृद्धि होती है, किन्तु उनकी सार्वभौम सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। अलंकार काव्य की आत्मा–रस के सहायक हैं, आत्मा नहीं, इसीलिए अभिव्यक्ति–पक्ष का तत्त्व होने के कारण अलंकारों का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अलंकार और अलंकार्य में भेद :

भारतीय काव्य–शास्त्रियों ने साहित्य में अलंकार और अलंकार्य में परस्पर अन्तर माना है। उन्होंने वर्णनीय वस्तु को अलंकार्य तथा वर्णन–शैली या शैलीगत विशेषताओं को अलंकार बताया है। जैसे 'मुख–चन्द्र' में 'मुख' अलंकार्य है जबकि 'चन्द्र' अलंकार है। किन्तु आधुनिक युग के अनेक पाश्चात्य विद्वान इस धारणा का खंडन करते हैं। क्रोचे का कहना है कि अलंकार और अलंकार्य में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं। उनका तर्क है – ष्व्दम बंद ेा वदमेमसपिवू ंद वतदंउमदज बंद इम रवपदमक जव मगचतमेपवदण म्गजमतदंससलघ प्द जींज बेंम पज उनेज ंसूंले तमउंपद ेमचंतंजमण प्दजमतदंससलघ प्द जींज बेंम मपजीमत पज कवमे दवज ेपेज मगचतमेपवद ंदक उंते पजए वत पज कवमे वितउ चंतज वि पजए ंदक पे दवज ंद वतदंउमदज इनज ं बवदेजपजनमदज मसमउमदज वि मगचतमेपवद पदकपेजपदहनपींइसम तिवउ जीमपिवसमण्ष्

अर्थात् यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का समावेश कैसे हो सकता है। बाहर से? तब तो फिर वह सदा ही उक्ति से पृथक् रहेगा। यदि भीतर से? तो उस दशा में वह या तो उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जाएगा या फिर उसका अंग बन कर अलंकार ही न रह जाएगा। उस स्थिति में वह उक्ति का ही अंग बन कर उससे सर्वथा अभिन्न हो जाएगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सच्चे काव्य में वस्तु और अलंकार मिल कर एकाकार हो जाते हैं, उन्हें अलग–अलग कर देने पर काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु फिर भी वस्तु और अलंकार का भेद मिटाया नहीं जा सकता। पानी में लाल रंग घुल कर एकाकार हो जाता है, किन्तु इसी से हम यह नहीं कह सकते कि पानी और लाल रंग – दोनों एक ही होते हैं। अतः क्रोचे का तर्क हमें निस्सार प्रतीत होता है।

अलंकारों का शास्त्रीय स्वरूप व महत्त्व :

काव्य के शास्त्रीय अध्ययन को काव्य शास्त्र की संज्ञा दी गई है। इसी का प्राचीनतम नाम अलंकार शास्त्र है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमिमांसा' में इस शास्त्र को 'साहित्य विधा' के नाम से अभिहित किया है। उनके अनुसार प्रसिद्ध चार विद्याओं – अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के अतिरिक्त कोई पाँचवीं विद्या नहीं है। 'साहित्य विद्या इन सब विद्याओं का निष्यन्द (सारभूत) है। यद्यपि 'साहित्य विद्या' नाम सर्वथा उपादेय प्रतीत होता है, किन्तु साहित्य–शास्त्र में इसका विशेष प्रचलन न हो सका। वात्स्यायन ने 'क्रिया' का

अर्थ 'काव्य ग्रन्थ' और 'कल्प' का अर्थ 'विधान' मान कर इसे 'क्रियाकल्प' के नाम से अभिहित किया है। किन्तु 'अलंकार–शास्त्र' शब्द ही साहित्य शास्त्र में सर्वाधिक प्रचलन और महत्त्व पा सका। इनके अतिरिक्त 'सौन्दर्य–शास्त्र', 'साहित्य–शास्त्र', 'काव्य–शास्त्र' आदि शब्द इसी के समानार्थक हैं।

काव्य का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाले आचार्यों ने काव्य के उत्कर्षक तथा प्रभावक धर्म को 'अलंकार' संज्ञा दी है, क्योंकि इस धर्म की चरम परिणति अलंकरण या सजावट में थी। कालान्तर में विकासानुरूप काव्य के उत्कर्षक धर्म के अन्य रूप भी आचार्यों को प्राप्त हुए। किन्तु दीर्घकाल तक उन धर्मों का पृथक उल्लेख न कर सके, आचार्य वर्ग उनका वर्णन 'अलंकार' नाम से ही करता रहा। तदोपरान्त अलंकार का क्षेत्र संकीर्ण बन गया। इस प्रकार 'अलंकार' के विकास की तीन प्रमुख स्थितियाँ हैं। आरम्भिक स्थिति में अध्येताओं को काव्य के उत्कर्षक धर्म के केवल एक ही रूप का ज्ञान था, जिसको वे 'अलंकार' कहते थे। विकसित अवस्था में 'अलंकार' शब्द का अर्थ विस्तृत हुआ और काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्य मात्र का नाम 'अलंकार' पड़ गया। तीसरी अवस्था में उत्कर्षक धर्म की अन्य विधाएँ प्रतिष्ठित होकर स्वतंत्र हुई और उन्हें भी 'अलंकार' के साथ शास्त्रीय अध्ययन की प्रमुखता प्राप्त हुई। स्पष्ट है कि पहले अलंकार–शास्त्र सम्पूर्ण साहित्य–शास्त्र या काव्य–शास्त्र का समानार्थी रहा है, कालान्तर में प्रचलित पूरे 'अलंकार–सम्प्रदाय' का पर्याय नहीं रहा जैसा कि अब माना जाता है। भारतीय अलंकार शास्त्र के ऐतिहासिक क्रम विकास के अध्ययन एवं अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि इस शास्त्र का गम्भीर अध्ययन एवं अलोचन ईसा से बहुत काल पूर्व से प्रारम्भ हो गया था। निरुक्तकार यास्कने अपने भी पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्यका 'उपमा' का वैधानिक लक्षण देकर ऋग्वेद के अनेक मंत्रों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि यास्क से पूर्व उपमा का विश्लेषण गार्ग्यका आदि आचार्यों द्वारा हो चुका था और वेद मंत्रों के अर्थ में उपमा की व्याख्या की जाती थी। तदुपरान्त यास्क और भरत के मध्यवर्ती समय में 'अलंकार' के कतिपय शास्त्रीय शब्दों के उल्लेख पाणिनी के सूत्रों, कात्यायन के वार्तिक तथा पतंजलि के भाष्य में मिलता है। पाणिनी के समय तक उपमा के चारों अंग विकसित हो चुके थे। पाणिनी द्वारा 'नटसूत्र' के रचयिता शिलालि और कृशाश्व का उल्लेख भी इस शास्त्र की प्राचीनता को सूचित करता है। द्वितीय शतक के रुद्रदामन् आदि के शिलालेखों में केवल अलंकृत भाषा की ही प्रतिष्ठा नहीं है, उनमें 'अलंकार–शास्त्र' के कतिपय सिद्धान्तों की ओर भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त भरत के नाट्य शास्त्र का मूल अंश भी बहुत प्राचीन है। नाट्य शास्त्र का षौडष अध्याय 'अलंकार–लक्षण' है। यहाँ अलंकार शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, शास्त्रीय अर्थ में नहीं। अतः इस

अंत में हम कह सकते हैं कि अलंकारों का निश्चित रूप से काव्य में महत्त्व है। उनसे भावों को स्पष्ट एवं उचित रूप से अभिव्यक्ति और उक्ति के प्रभाव में वृद्धि होती है तथा वे श्रोता के मन को आकर्षित एवं आन्दोलित करते हैं। किन्तु यह सब कुछ तभी होता है जबकि उनके पीछे भावों की प्रेरणा हो। अलंकार के लिए अलंकार का प्रयोग सफल नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, अलंकारों के प्रयोग के लिए पूर्वाभ्यास की भी अपेक्षा है। प्रायः यह कहा जाता है कि आज का युग अलंकारों का युग नहीं है। अतः काव्य से भी अलंकारों का बहिष्कार होना चाहिए–किन्तु इस तर्क का आधार ही खोखला है। क्या सचमुच ही आज का युग अलंकार का युग नहीं है? क्या आज विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों–विभिन्न फैशन के वस्त्राभूषणों, रंग–बिरंगें पाउडर, लिपिस्टिक आदि का प्रयोग नहीं होता? वस्तुतः अलंकारों का रूप बदल गया है किन्तु अलंकार की मूल भावना आज भी मनुष्यों में ज्यों की त्यों विद्यमान है।

अलंकारों की प्रशंसा के साथ–साथ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अन्ततः अलंकार अलंकार ही है। अलंकार के लिए हम अपने नाखून तो कटवा सकते हैं किन्तु यदि कोई अंगुलियाँ कटाने के लिए कहे तो हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में अलंकार काव्य की आत्मा नहीं है काव्य के शरीर भी नहीं, वे केवल उसके बाह्य पक्ष को सुसज्जित करने के साधन मात्र हैं। अलंकारों से कुरूप को सुन्दर नहीं बनाया जा सकता, केवल सुन्दर के ही सौन्दर्य को बढ़ाया जा सकता है, ठीक वैसे ही यदि कवि के पास अनुभूतियों का संचित कोष है तो अलंकार भी उसकी वैभव–वृद्धि में योग दे सकते हैं, अन्यथा कोरे अलंकारों की पूँजी से कोई व्यक्ति कवि नहीं बन सकता।

***सह–आचार्य**
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, उनियारा (टोंक)

संदर्भ ग्रन्थ

1. वामन वृत्ति – आ. वामन
2. काव्यादर्श – आ. दण्डी

3. काव्यलंकार रस सूत्र – आ. वामन
4. ध्वन्यालोक – आ. आनन्दवर्धन
5. वक्रोक्ति जीवितः – कुन्तक
6. चन्द्रालोक – जयदेव
7. कविप्रिया – आ. केशव
8. जायसी ग्रन्थावली (भूमिका) – आ. रामचन्द्र शुक्ल
9. हिन्दी साहित्य कोष (भाग–2) – डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
10. प्रभाकर प्रबोधिनी
11. काव्य शास्त्र – डॉ. भागीरथ मिश्र
12. भारतीय काव्य शास्त्र – डॉ. कृष्णदेव शर्मा
13. भारतीय काव्य शास्त्र – डॉ. रामानन्द शर्मा
14. साहित्यिक निबन्ध – डॉ. नगेन्द्र
15. छन्द अलंकार प्रवेशिका
16. काव्यमिमांसा – राजशेखर
17. काव्य ग्रन्थ – वात्स्यायन
18. जसवन्त जसोभूषण – कविराज मुरारीदीन
19. काव्य प्रभाकर – जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'
20. अलंकार मंजूषा – भगवानदीन
21. अलंकार मंजरी – सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
22. अलंकार पीयूष – रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'
23. अलंकार मुक्तावली – देवेन्द्रनाथ शर्मा
24. भारती भूषण
25. ऋग्वेद